विजयधर्मसूरि के

वचन-कुसुम

विजयधर्मसूरि के
वचन-कुसुम।

सम्पादक—

मुनि विद्याविजयजी।

प्रकाशक—
फूलचन्द्रजी वेद,
से० श्रीयशोविजय ग्रंथमाला,
भावनगर ।

—मुद्रक—
देसाई आर्ट प्रिंटिंग प्रेस,
लश्कर - गवालियर.

वीर सं. २४५७, धर्म सं. ९
सन् १९३१.

जिनकी
ग्रन्थ - वाटिका
से ये १०८ कुसुम
चूंटकर पाठकों को
भेंट किये जाते हैं, वे हैं
भारतवर्ष के सुविख्यात,
यूरोप और अमेरिका
के विद्वद्-जगत्में भी
प्रसिद्ध, कर्मवीर
और धर्मवीर
स्वर्गीय
महात्मा
विजयधर्मसूरि।

जिन ग्रन्थ-पौधों से ये कुसुम लिये गये हैं, उनके नाम ये हैं—

शिवपुरी निवासी

सेठ कानमलजी सांकला

के पुत्र

भाई इन्द्रमलजी के लग्न-

मंगलार्थ

५०० कापी भेट.

वचन-कुसुम

१

रागी मनुष्य के उपदेश में स्वार्थका अंश अवश्य रहता है। वीतराग का उपदेश एकान्त परमार्थोपदेश है।

२

हे मनुष्यों, संसार के क्लेशों से यदि तुम्हें घृणा उत्पन्न हुई है, और मृत्यु के दुःखों से उद्विग्न हुए हो तो विषय की छाया में एक क्षण भी विश्राम मत करो—उससे दूर ही रहो।

३

प्रमाद यह मनुष्यों के सिर पर रहा हुआ एक दुश्मन है, जो मनुष्य को कर्त्तव्य से भ्रष्ट करके नीचे गिरा देता है।

४

वैराग्य से एकत्रित किया हुआ शान्तरस क्रोध से तत्काल नाश होता है। इस लिये बडे परिश्रम से एकत्रित की हुई चीज का क्षणभरमें नाश कर देना यह बुद्धिमानों का कार्य नहीं हो सकता।

५

मनुष्य को सिंह के जैसा होना उचित है, कुत्ते जैसा नहीं। क्यों कि सिंह मूल कारण (मनुष्य) पर दृष्टि डालता है, कुत्ता साधन (लकडी) की तरफ दौडता है।

यदि अपने में दोष है और कोई निंदा करता है, तो उसका उपकार मानना चाहिये, इसलिये कि वह अपने दोषका स्मरण कराता है। यदि दोष नहीं है, और कोई निंदा करता है तो उसपर दया करनी चाहिये, इस लिये कि वह बिचारा निरर्थक कर्मबन्धन-पाप करता है-अपनी जीभ से हमारा मल साफ करता है।

७

धर्म का साधन रूप नहीं, परन्तु शरीर है। विना रूप के कई मनुष्य शरीर के साधन से उच्चश्रेणी को प्राप्त हुए हैं।

८

दर्शन, ज्ञान और चारित्र (सत्-चित्-आनन्द) रूप रत्न-त्रयी को देखने के लिये विवेक, विनय और शम, दमादि रूप दीपकों का प्रकाश हृदय में प्रकट होना चाहिये।

९

रोग की शान्ति के लिये जैसे औषध उपयोगी है वैसे मद-अहंकार-अभिमान को दूर करने के लिये मृदुता यह परम औषध है।

१०

गृहस्थों के लिये जो चीज भूषणरूप है, साधुओं के लिये वह दूषणरूप है ।

११

'एक बोल और एक तोल' यह व्यापारिक उन्नति के लिये सच्चा कारण है।

१२

जो मनुष्य माया रूपी महा-राक्षसी के फन्दे से बचा है, वह सच्चा मनुष्य-रत्न, राजा और सच्चा पूज्य है।

१३

स्मरण में रखना चाहिये कि:—कर्म किसी की शर्म नहीं रखता। जैसे कर्म किये जाते हैं, वैसे फल मिलते हैं।

१४

धर्म रूपी चन्द्रमा, दंभ रूप राहु से आच्छादित होता है, तब वह स्वकीय प्रकाश से—फल से निष्फल—निस्तेज होता है।

१८

लोभ की विद्यमानता में सभी दुर्गुण आकरके एकत्रित होते हैं। और लोभ के अभाव में मनुष्य सद्‌गुणी बना रहता है।

१६

लोह की जंजीर शरीर के बल से तोडी जा सकती है, परन्तु मोह की जंजीर अन्य किसी शक्ति से नहीं तोडी जा सकती है, सिवाय एक वैराग्यके ।

१७

कर्म की सत्ता यही संसार की सत्ता है, और कर्म का अभाव यही संसार का अभाव है।

१८

जिस सुख के अन्त में दुःख है वह वस्तुतः सुख नहीं, परन्तु दुःख ही है। और जिस दुःख के अन्त में सुख है, वह दुःख नहीं परन्तु सुख है।

१०

वास्तविक तत्त्वज्ञान होने से जब मोह का मर्म ज्ञात होता है, तब कल्याणाभिलाषी मनुष्य स्व-सत्ता का उपयोग करता है।

२०

सिर्फ पुस्तकें पढ़ करके कुतर्क करनेवाला अथवा दूसरों को उपदेश देकर स्वयं क्रिया से पृथक् रहनेवाला सच्चा पंडित नहीं है, परन्तु ज्ञान के साथ जो स्वयं क्रिया का आचरण करता है, वही सच्चा पंडित है।

२१

आत्मकल्याणरूप कल्पवृक्ष को लब्धिएं रूप जो फूल उत्पन्न होते हैं, वही सच्ची आत्मऋद्धि है।

२२

यदि आपको निंदा करने की आदत पड गई हो, किंवा इसका शौक हो गया हो, तो स्वयं अपनी ही निंदा करो, ताकि किसी भी समय उद्धार हो सके।

२३

वीरों का भूषण क्षमा है। जहां क्षमा का अभाव और क्रोध का प्रभाव, वहां अहिंसा महादेवी का निवास नहीं हो सकता।

२४

निंदा करने से अपनी शुद्ध क्रिया भी दूसरे की अशुद्ध क्रिया के बराबर हो जाती है।

२८

शुभाशुभ प्रवृत्ति, यह धर्म और अधर्मका संक्षिप्त स्वरूप है। शुभ प्रवृत्ति वह धर्म, अशुभ प्रवृत्ति वह अधर्म।

२६

जहां कदाग्रह होता है, वहां धर्म नहीं हो सकता ।

२७

शान्तिका बढना, विषयेच्छा का कम होना, न्याय-नीति का पालन, और दुनियां के समस्त जीवों के साथ प्रेम का होना, इसी का नाम है धर्म।

२८

दीमकवाली जमीनपर शिखर की आकृतिवाला वल्मिक बनता है, परन्तु वह शिखर किंवा पर्वत नहीं कहा जासकता। उसी प्रकार जिस क्रिया में भाव नहीं है, उसकी भी कोई सार्थकता नहीं है।

२०

भक्ति, यह मुक्तिके लिये होनी चाहिये, न कि दुश्मन का क्षय, धनकी पूर्ति किंवा यशोवाद के लिये।

३०

चाहे मूर्त्ति हो, चाहे फोटू, चाहे पुस्तक हो या मनुष्य-किसी भी वस्तुके प्रति पूज्यबुद्धि रखनी-बहुमान रखना उसी का नाम है पूजा ।

३१

प्रियता किंवा अप्रियता किसी चीज में नहीं रही हुई है, परन्तु मनुष्यों की परिणति ही राग-द्वेष वाली होनेसे, किसी को एक चीज प्रिय मालूम होती है, वही वस्तु दूसरे को अप्रिय।

३२

मन को वैराग्य रूप हस्तिपर बैठाकर, विवेक-विनयादि शस्त्रोंसे क्रोधादि आन्तरिक शत्रुओं के साथ युद्ध करना चाहिये।

३३

ऐसा दुबला-पतला मुनि, जिसके राग-द्वेष और मोह पतले हुए हैं-कम हुए हैं, तृणकी शय्या में भी जो सुख अनुभव करता है, वह अनेक भोगविलासों में आसक्त ऐसा चक्रवर्ती, मनों रुईसे भरी हुई रेशम की शय्या में भी अनुभव नहीं कर सकता।

३४

ज्ञान के साथही क्रिया फल-
वती होती है। और ज्ञान भी
क्रियाके साथही होता है, तब
सफल है।

३८

आत्मा पर मिथ्या-भाव का रहना यही, पदार्थोंका-तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान नहीं होनेका कारण है। इसलिये प्रथम मिथ्याभाव का त्याग करना चाहिये।

३६

जो मनुष्य लोभको अपने आधीन करता है, वही संसारमें सच्चा स्वामी, योगी और संसार से सर्वथा वियोगी है।



महात्मा विश्व-प्रेम मूर्ति



महात्मा विजय-धर्म सूरि.

३७

क्षमागुण के अभाव में अन्य गुण उतनेही निरर्थक हैं, जितने किसी अंकके रहित बिंदीयां—जीरो।

३८

कंचन और कामिनी (द्रव्य और स्त्री) के त्यागी, वेही सच्चे त्यागी गुरु और वेही पूजनीय हैं।

३९

कितनीही उच्च कोटियाँ की उपाधियों से (पदों से) विभूषित मनुष्य क्यों न हो, यदि वह मायाके आधीन है तो वह संसार-समुद्र का पार नहीं पा सकता।

४०

जिस देश, जाति किंवा समु-
दाय में प्रेम का अभाव होता है,
वह देश, जाति किंवा समुदाय
विजय को प्राप्त नहीं होता।

४१

कोई भी कार्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को देख करके करना चाहिये। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अनभिज्ञ मनुष्य, फिर वह पंडित, वैद्य, उपदेशक, किंवा राजा-कोई भी हो, दुःखी होता है।

४४

परदोष को प्रगट करने का स्वभाव, वह स्वदोष की वृद्धि करनेवाला होता है। और वह दुर्गति का असाधारण कारण है।

४८

दूसरे के उत्कर्ष को नहीं सहन करने वाला-दूसरे का अपकर्ष करनेवाला कभी कीर्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

४६

परात्मा की रक्षा के लिये स्वात्मा अर्पण कर देना यही भगवान् वीरकी शिक्षा है— आज्ञा है।

४७

ऐसे रिवाज, जो धर्म के लिये कलंकभूत हों उनको बंद करना, इसमें धर्म की हानि नहीं, किन्तु दृढता है-उज्ज्वलता है।

४८

जिस क्रिया से मनोवृत्तियाँ शुद्ध हों, उसीका नाम है धार्मिक क्रिया।

४९

जाति, लाभ, कुल, ऐश्वर्य बल, रूप, तप और शास्त्र-ज्ञान, इसका मद-अभिमान तो दूर रहा, 'मैंने कैसा धर्म किया—पुण्य किया' ऐसा मद भी करना नहीं चाहिये।

८०

'आर्य' वही है जो त्याग करने योग्य कार्यों से दूर रहता है।

८१

कच्चे सूतके पलंगपर बैठने वाला मनुष्य जैसे नीचे गिर जाता है, उसी प्रकार विषय-सेवन के आश्रय में जानेवाला नीचेही गिरता है। उसकी अधो-गति होती है।

८२

मनुष्य-जन्मरूप कल्पवृक्षको विषय-कषायरूप खारे जल से सुका देना, यह योग्य नहीं है।

८३

इष्टके संयोग में राग और वियोगमें द्वेष नहीं करना चाहिये; वैसेही अनिष्ट के संयोगमें द्वेष और वियोग में राग नहीं करना चाहिये।

५४

आत्मा को सुख-दुःख देने-वाला कोई नहीं, अपनेही कर्म हैं। और कर्मबंधन होने का कारण अन्तःकरण की शुभाशुभ वृत्तियाँ हैं।

५५

वीतराग का ध्यान करने से जीव वीतराग दशा को प्राप्त करता है, और रागीका ध्यान करने से जीव रागी होता है।

५६

किसी के शरीर का नाश करना उसीका नाम हिंसा नहीं है, किन्तु द्वेषबुद्धि से किसी को मानसिक दुःख देना, वह भी हिंसा है।

८७

जैसे जैसे पुण्य बढता जाता है, वैसे वैसे जीवों की स्थिति उच्च होती जाती है।

५८

प्राण पुद्गलरूप है, और उसका नाश करने से हिंसा होती है। क्योंकि उसके नाश करनेमें जीवको दुःख हुए बगैर नहीं रहता।

८१

शिरका छेद होने पर भी धीर पुरुष अपनी वीरताको नहीं छोडते।

९०

धर्मका उपदेश नहीं करनेवाला साधु, पत्ते के समान है, क्योंकि स्वयं तैरता है, दूसरों को तैरानेके लिये-पार करनेके लिये-समर्थ नहीं होता।

६१

यदि हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार, और लोभवृत्ति आदि से धर्म होता हो तो फिर अधर्म किसको कहना चाहिये? ।

स्मरणमें रखना चाहिये कि परोपकार यह पुण्यके लिये होता है और दूसरे को दुःख देना, यह पापके लिये। समस्त धर्मशास्त्रों का यही सार है।

६३

यदि सर्पके मुखसे अमृतकी वृष्टि होती हो, तो 'हिंसासे धर्म होता है' ऐसा माना जा सकता है।

६४

जिसके हृदयमें अहिंसा देवी को स्थान मिला है, उसके हृदय में ब्रह्मचर्य, परोपकार, संतोष, दान, ध्यान, तप-जपादि गुणोंकी श्रेणी आकर उपस्थित होती है।

६८

अहिंसारूप अत्युपयोगी उद्यान की रक्षा के लिये ज्ञान, ध्यान, संध्यादि धर्मकृत्य रूप बागड की आवश्यकता है।

६६

धर्मका मूल दया है, जहां हिंसा हो, वहां दया नहीं रह सकती। और अतएव धर्म भी नहीं होता है।

६७

हिंसा करके प्रायश्चित्त करना यह कीचड में पैर डाल करके धोनेके बराबर है।

९८

जो मनुष्य दूसरे के मांस से अपने मांसकी वृद्धि करना चाहता है, उस मनुष्य से, अन्य पाप करने वाला मनुष्य कम गुन्हेगार है, इस लिये कि प्राण से बढ़कर अन्य कोई प्रिय वस्तु नहीं है।

६९

अपने आत्मापर जैसा प्रेम रक्खा जाता है, वैसा ही अन्य आत्माओं पर भी रखना चाहिये। अर्थात् सुख-दुःखमें अपने आत्मा के बराबर दूसरे आत्मा को भी समझना चाहिये।

७०

भयसे व्याप्त ऐसे इस संसार में वही मनुष्य हमेशा निर्भय रह सकता है, जो सब जीवोंपर दया करता है।

७१

क्रूर कर्म करनेवाले मनुष्य, अपनी क्षणिक तृप्तिके लिये दूसरे जीव का जन्म नष्ट कर डालते हैं, क्या उसको कोई भी बुद्धिशाली मनुष्य अच्छा कह सकता है?।

७२

जितने अंशमें ब्रह्मचर्य की रक्षा विशेष कीजाय, उतनेही अंशमें महत्त्वयुक्त कार्य करने की शक्ति प्रबल होती है।

७३

वीर्यरक्षा करना, यह आत्म-रक्षा करने के बराबर है।

७४

'वीर्यरक्षा करनी,' यह एक प्रजावत्सल, नीतिपरायण राजा की रक्षा करने के बराबर है। क्योंकि वीर्य, यह शरीरका सच्चा राजा है।

७८

इक्षुमें से रस निकल जानेपर जैसे कूचा मात्र रहते हैं, वैसेही वीर्यके नाशमें शरीर सत्वहीन हाड पिंजर मात्र रहता है।

७६

अपने और परके कल्याणके लिये भिक्षा मात्रसे अपना निर्वाह करते हुए पृथ्वीमें जो परिभ्रमण करते हैं, वेही साधु हैं।

७७

सर्वथा ब्रह्मचारी रहनेवाले पुरुषोंने ऐसे संयोगोंमें कभी नहीं आना चाहिये, जिससे अपने ब्रह्मचर्य के भंगका प्रसंग आ पडे।

७८

काम-राग को बढाने वाली स्त्री-कथा से ब्रह्मचारी पुरुषोंने सर्वथा दूर रहना।

७९

ऐसा आहार (भोजन), कि जिससे कामकी वृद्धि हो (उत्तेजन मिले) उससे सर्वथा दूर रहना, यह ब्रह्मचारियों का कर्त्तव्य है।

८०

जो कम खाता है, वह बहुत खाता है।

८१

हजारों प्रकारकी तीव्र क्रियाएं-केश-लुंचन, कठिन तपस्या और पंचाग्नि कष्ट—सभी एक ब्रह्मचर्यके नाशमें निरर्थक होजाता है।

८२

जो मनुष्य मर्यादाका उल्लंघन करते हैं, वे भय, शोक और चिंता में रात-दिन अपने जीवनको व्यतीत करते हैं।

८३

नींव (बुनियाद) की दृढता परही जैसे सारे मकानकी दृढता का आधार है, वैसेही वीर्यकी रक्षा परही जीवनकी दृढता का आधार है।

८४

बाल्यावस्था किंवा युवा-
वस्थामें ब्रह्मचर्य के नाश करने
के लिये तत्पर होना यह कुदरत
के नियमका भंग करने, बल्कि,
कुदरत के साथ युद्ध करने के
बराबर है।

८५.

अपरिपक्व वीर्य से उत्तम संतानकी आशा, उतनीही असंभवित और व्यर्थ है, जितनी, सडे हुए बीजको बोकर उत्तम धान्य उत्पन्न करनेकी आशा।

८६

स्मरणमें रखिये कि, दृष्टिमें आने वाले विषय के दृश्य, एवं कानोंसे सुने जानेवाली विषयकी बातें, कोमल वयके बालकों के दिलमें विषयका विष डालते हैं।

८७

पापीमें पापी और विनाश करनेमें कुशल, ऐसा यह दुराचरण, जिसपर एक दफे भी जय प्राप्त करता है, उसका थोड़ेही दिनोंमें नाश होता है।

८८

शास्त्रमर्यादा का उल्लंघन कर अनीतिपूर्वक कामका सेवन करने वाला काम पुरुषार्थ की साधना नहीं करता है, परन्तु कुकर्म करता है--दुराचार का सेवन करता है।

८९

किसी समय तक विषय-सेवन कर लेने से संपूर्ण तृप्ति होजाती है, ऐसा मानना उतनीही भूल है, जितनी अग्निमें घी डालने से अग्नि की शान्ति चाहना।

९०

वृद्धावस्था, यह बुद्धि का खजाना और अनुभवज्ञान की मूर्ति तबही बन सकती है, जब प्रथमकी जिन्दगी में सावधानता पूर्वक ब्रह्मचर्य पालन किया गया हो।

९१

विशेष पुत्रोत्पत्ति करना, यह आर्थिक दृष्टिसे देशकी दुर्दशा करनेके बराबर है।

१२

विधवाओंकी वृद्धिके मूल कारण बाललग्न और वृद्धविवाह है। इन दो कारणोंको दूर करना यही विधवाविवाह के प्रश्नको हल करनेके बराबर है।

९३

विनय, विवेक और संतोषादि गुण उसी स्त्री किंवा पुरुषमें आकर निवास करते हैं, जो मन, वचन, कायासे अपने शीलव्रत (ब्रह्मचर्य) की रक्षा करता है।

१४

स्त्रियोंका सबसे बड़ा और
आदर्श गुण 'पतिव्रताधर्म,' ही है।

९८

कामी पुरुषका कामजन्य सुख वैसाही सुख है, जैसा, कुत्ता किसी हड्डीको तोडते हुए, अपने दांतोंसे निकलते हुए खूनके आस्वादमें सुख मानता है।

९६

वास्तविक सुखकी पराकाष्ठा में पहुंचना, यही सच्ची आत्मोन्नति है।

९७

दुष्कर्मके नाशका सच्चा उपाय सद्विचार और सदाचार है।

९८

सच्चा सत्पुरुष वही है, जो कैसे भी कष्टोंके प्रसंग में मेरू की तरह अचल रहता है, रागका प्रसंग होनेपर भी शंखकी तरह निराग रहता है, और कैसेभी विकट प्रसंग में धैर्य रखता है-घबडाता नहीं।

९९

ज्ञान दर्शन और चारित्र (सत्-चिद्-आनंद) ये सच्चे भाव-रत्न हैं, इन्हींसे जीवकी अनादि-कालकी दरिद्रता दूर होती है। और वह दरिद्रता पुनः आनेही नहीं पाती।

१००

जैसे रत्नोंका आधार समुद्र और प्राणीमात्रका आधार पृथ्वी है, वैसे समस्त गुणोंका आधार 'सम्यक्-दर्शन' (उत्तम श्रद्धा,) है।

१०१

वही आत्मा परमात्मा की दशा को पहुंचता है, जिसपर से कर्मरूपी महामल दूर होता है।

१०२

श्रद्धा और चारित्ररहित ज्ञान निरर्थक है, वह कार्यसिद्धि नहीं कर सकता।

१०३

जो मनुष्य, स्वयं संसार की वासनाओं में मुग्ध है, वह दूसरे का उद्धार करने में कैसे समर्थ हो सकता है ?।

१०४

हृदय के कठोर (शुष्क) मनुष्य को उत्तम में उत्तम त्यागीका उपदेश भी असर न करे, तो उसमें उस उपदेशके देनेवाले की किंवा उपदेश की न्यूनता नहीं है, किन्तु उस मनुष्य की कमनसीबी का ही दोष है।

१०५

'अर्थ' धार्मिक पुरुषोंके लिये पुण्य कर्मके फलरूप होता है, और विषयासक्तों के लिये विषय प्राप्ति का कारण बनता है।

१०६

शुभकर्मवाले मनुष्यके पास सभी संपदाएं गुणाधीन होकर अपने आप चली आती हैं।

१०७

जो मनुष्य अपनी स्त्रीको छोडकर अन्य स्त्रीके पास जाता है वह जानबूझकर अपनी स्त्रीको दुराचारिणी बनाता है।

१०८

संसार में भिन्नता भलेही रहे, परन्तु विरुद्धता मत करो। स्पर्द्धा भले ही करो, किन्तु ईर्ष्या मत करो।